कषाय कौतुक और उससे मुक्ति : साधन और विधान

डा. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया

वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियाँ मिलकर भारतीय संस्कृति के रूप को स्वरूप प्रदान करती हैं। वैदिक और बौद्ध संस्कृतियाँ प्रायः किसी न किसी सत्ता, शक्ति, व्यक्ति द्वारा प्रसूत है। किन्तु जैन संस्कृति का कोई निर्मापक नहीं है। वह मूलतः कृत नहीं है, सर्वथा प्राकृत है। इसीलिए वह आदि है, अनादि है। जैन संस्कृति में जीव के जन्म-मरण का प्रमुख कारण कषाय और उनका कौतुक माना गया है। यहाँ इसी संदर्भ में संक्षिप्त चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहा गया है। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षड्द्रव्यों का उल्लेख जैन दर्शन में किया गया है। इन सभी द्रव्यों के समीकरण को संसार कहते हैं। प्राण द्रव्य जब पर्याय धारण करता है तब वह प्राणी कहलाता है। प्राणी का कर्म के साथ सम्बन्ध प्रवाहतः अनादि है। जैन परम्परा में कर्म दो प्रकार का माना गया है यथा—

(१) द्रव्यकर्म (२) भावकर्म

जड़ तत्त्व जब आत्म तत्त्व के साथ मिलकर कर्म के रूप में परिणत होता है तब उसे द्रव्यकर्म कहा जाता है। राग-द्वेष से अनुप्राणित परिणाम वस्तुतः भावकर्म कहलाते हैं। प्राणी पुराने कर्मों को भोग कर काटता है और नए कर्मों का उपार्जन करता है फलस्वरूप वह भव-बंधन से मुक्त नहीं हो पाता है। जब पुराने कर्मों को नष्ट कर नए कर्मों के उपार्जन का द्वार बंद हो जाता है तब जो आत्मा की अवस्था होती है उसे मुक्ति, मोक्ष अथवा आवागमन के चंक्रमण से छुटकारा कहा गया है।

जैन परम्परा में कर्म उपार्जन के कारण सामान्यतः दो प्रकार से माने गए हैं। यथा—

(१) योग (२) कषाय

योग क्या है? यह एक प्रश्न है। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहा गया है जबकि कषाय है मानसिक आवेग। योग अर्थात् क्रिया कमोपार्जन का मुख्य कारण है किन्तु कषाययुक्त योग महत्वपूर्ण कर्मबंध का कारण माना गया है। कषाय रहित कर्म निर्बल और अल्पायु होते हैं अर्थात् वे तुरन्त झड़ जाते हैं किन्तु कषाय सम्पृक्त कर्मबंध अटूट और जटिल होते हैं।

प्रत्येक आत्मा में अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख और अनंतवीर्य

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अथवा बल सर्वथा विद्यमान रहते हैं। इनका दर्शनावरणी, ज्ञानावरणी, मोहनीय और अन्तराय कर्म प्रकृतियाँ घात किया करती हैं। शेष चार कर्मप्रकृतियाँ—वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र क्रमशः कर्म प्रकृति, अनुकूल तथा प्रतिकूल संवेदन अर्थात् सुख-दुःख के अनुभवों का कारण है।

आयुकर्म प्रकृति के कारण नरकादि विविध भवों की प्राप्ति होती है। नामकर्म प्रकृति विविध शरीर आदि का कारण है और गोत्रकर्म प्रकृति प्राणियों के उच्चत्व एवं नीचत्व का कारण है। कर्म की तीव्रता और मंदता, कषायों की तीव्रता और मंदता पर निर्भर करती है। अतः यहां कषाय और उसके कौतुक पर संक्षेप में चर्चा करना हमें मुख्यतः अभिप्रेत रहा है।

आत्मा के भीतरी कलुष परिणाम को कषाय कहा जा सकता है। यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार ही कषाय प्रसिद्ध हैं पर इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार की कषायों का निर्देश आगम में उपलब्ध है। कषाय को जानने और पहचानने के लिए अनेक दृष्टियाँ प्रचलित हैं—नोकषाय की दृष्टि से हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, तथा मैथुन भाव उल्लिखित हैं परन्तु ये कषायवत् व्यक्त नहीं होतीं अपितु राग-द्वेष में गर्भित रहती हैं। आत्मा के स्वरूप का घात करने के कारण कषाय वस्तुतः हिंसा है। मिथ्यात्व सबसे बड़ी हिंसा है।

विषयों के प्रति आसक्ति की अपेक्षा से कषाय चार कोटि की मानी गई हैं। यथा—

(१) अनन्तानुबंधी (२) अप्रत्याख्यान
(३) प्रत्याख्यान (४) संज्वलन

इस प्रकार क्रोधादि के भेद से काषायिक आसक्ति को चार-चार भेद करके कुल सोलह प्रभेदों में विभक्त किया जा सकता है। सम्भव है कि किसी व्यक्ति में क्रोधादि की मंदता हो और आसक्ति की तीव्रता अथवा क्रोधादि की तीव्रता हो और आसक्ति की मंदता हो, अतः क्रोधादि की तीव्रता-मंदता को लेश्या द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है और आसक्ति की तीव्रता-मंदता को अनन्तानुबंधी आदि द्वारा। कषायों की शक्ति अचिन्त्य है। कभी-कभी तीव्र कषायवश आत्मा के प्रदेश शरीर से निकल कर अपने शत्रु का घात तक कर आते हैं, इसे कषाय समुद्घात कहते हैं।

जैन परम्परा में कषाय के लक्षण सम्बन्धी अनेक रूप से विचार हुआ है। यहाँ पर संक्षेप में उसकी चर्चा करना असंगत न होगा। जो क्रोधादिक जीव के सुख-दुःखरूप बहुत प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले कर्म रूप खेत का कर्षण करते हैं अर्थात् जोतते हैं और जिनके लिए संसार की चारों गतियाँ मर्यादा या मेंड़ रूप हैं, इसलिए उन्हें कषाय कहते हैं।[1] कषाय की चर्चा करते हुए सर्वार्थसिद्धिकार ने उसका लक्षण इस प्रकार व्यक्त किया है—कषाय अर्थात् क्रोधादि कषाय के समान होने से कषाय कहलाते हैं। उपमा रूप अर्थ क्या है ? जिस प्रकार नैय ग्रोध आदि कषाय श्लेष का कारण हैं उसी प्रकार आत्मा का क्रोधादि रूप कषाय भी कर्मों के श्लेष का कारण है। इसीलिए कषाय के समान यह कषाय है।[2] राजवार्तिककार ने कषाय को वेदनीय कर्म के उदय से होने वाली क्रोधादि रूप कलुषता को कहा है क्योंकि यह आत्मा के स्वाभाविक रूप को कष देती है अर्थात् उसकी हिंसा करती है।[3]

कषाय जैन दर्शन में एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त है। कष् और आय इन दो शब्दों के योग से कषाय शब्द का गठन हुआ है। कष शब्द का अर्थ है कर्म अथवा जन्म-मरण और आय का अर्थ है आगम अर्थात् होना। जिससे कर्मों का आगम—आय अथवा बंधन होता है अथवा जिससे जीव को बार-

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बार जन्म-मरण के चंक्रमण में पड़ना पड़ता है, वस्तुतः वही पड़ाने वाली वृत्ति कषाय है। जो मनोवृत्तियाँ आत्मा को कलुषित करने वाली हैं जिनके प्रभाव से आत्मा अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जाता है, वह वस्तुतः कषाय है। आवेग और लालसा विषयक वृत्तियाँ कषाय का प्रजनन करती हैं और इन वृत्तियों का नाना प्रकार से व्यवहार कषाय-कौतुक को जन्म प्रदान करता है।

कषाय के भेद करते हुए जैनाचार्यों ने अनेक विध विचार किया है—सामान्यतः कषाय को दो रूपों में विभक्त किया जा सकता है। यथा—

(१) कषाय (२) नोकषाय[4]

कषाय मुख्यतः चार प्रकार की कही गई है। यथा—

(१) क्रोध (२) मान

(३) माया (४) लोभ

इन चारों कषायों को अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, तथा संज्वलन की दृष्टि से प्रत्येक की चार-चार अवस्थाएँ कही गई हैं।[5] नोकषाय के नौ भेद किए गए हैं। यथा[6]—

(१) हास्य (२) रति

(३) अरति (४) शोक

(५) भय (६) जुगुप्सा

(७) स्त्रीवेद (८) पुल्लिगवेद

(९) नपुंसकवेद

इस प्रकार कषाय के कुल मिलाकर पच्चीस भेद आगम में उल्लिखित हैं।[7]

आगम में एक संवादात्मक प्रसंग आया है। तीर्थंकर महावीर इन्द्रभूति से कहते हैं कि मूलतः कषाय हैं चार ही……क्रोध, मान, माया और लोभ। यहाँ इन्हीं चार कषायों के विषय में सूक्ष्म तथा वैज्ञानिक संक्षिप्त विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। यथा—

क्रोध-कषाय

भगवती सूत्र में क्रोध कषाय की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की गई है। क्रोध वस्तुतः एक मानसिक संवेग है, उसकी उत्तेजना अतिरिक्त है जिसके जाग्रत होने से प्राणी भावाविष्ट हो जाता है और तब उसकी विचार-क्षमता तथा तर्क-तेज निस्तेज हो जाता है। आवेग का उत्कर्ष युयुत्सा को जन्म देता है और युयुत्सा कालान्तर में अमर्ष को उत्पन्न कर देता है। अमर्ष का सीधा प्रयोग-परिणाम आक्रमण ही होता है। विचारणीय बात यह है कि क्रोध में आवेग आक्रमण तथा भय में आवेग रक्षा विषयक प्रयास करता है।

क्रोध जगते ही शरीर की दशा में परिवर्तन होने लगते हैं। जीवनचर्या की पूरी प्रक्रिया प्रभावित हो जाती है। आमाशय की क्रिया शिथिल, रक्तचाप असंतुलित, हृदय की गति में व्यतिक्रम तथा मस्तिष्क में ज्ञानतंतुओं की अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसी बात को शास्त्रीय शब्दावलि में कहा जा सकता है कि चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला, उचित-अनुचित का विवेक नष्ट कर देने वाला प्रज्वलन रूप आत्मा का परिणाम वस्तुतः क्रोध कहलाता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोध की अनेक पर्याय उल्लिखित हैं। इन्हें दश संज्ञाओं में परिगणित किया जा सकता है। यथा—

(१) क्रोध (२) कोप
(३) रोष (४) दोष
(५) अक्षमा (६) संज्वलन
(७) कलह (८) चाण्डिक्य
(९) भंडन (१०) विवाद

संवेग की उत्तेजनात्मक अवस्था क्रोध, क्रोध से उत्पन्न स्वभाव की चंचलता कोप, क्रोध का परिस्फुटित रूप रोष, स्वयं पर या दूसरे पर थोपना दोष, अपराध को क्षमा न करना अक्षमा, बार-बार जलना और तिलमिला जाना संज्वलन, जोर-जोर से बोलकर अनुचित भाषण करना कलह, रौद्ररूप धारण करना चाण्डिक्य, मारने-पीटने पर उतारू हो जाना—भण्डन तथा आक्षेपात्मक भाषण करना विवाद कहलाता है। विचार करें, ये नाना अवस्थाएँ क्रोध के कारण उत्पन्न होती हैं। आवेग के अनुसार ये सभी अवस्थाएँ उत्पन्न होकर भयंकर रूप धारण करती है।[१]

क्रोध उत्पन्न होने के अनेक कारण होते हैं—असन्तोष, असफलता, अभाव, प्रतिकूलताएँ आदि। विपरीत एवं विषम परिस्थितियों से प्राणी के अन्दर ही अन्दर झल्लाहट पैदा होती है। विचार करें, क्षमा अन्दर से उत्पन्न होती है वह आत्मा का स्वभाव है। क्रोध बाहर से आता है और वह कर्म का स्वभाव है।[९]

क्रोध की पराकाष्ठा और उसका परिणाम युद्ध है। आज विश्व महायुद्ध के वातावरण में जी रहा है। युद्ध में विनाशकारी कौतुक हुआ करते हैं। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू अपनी विदेश यात्रा पर थे और वे सर्वत्र शान्ति की बातें कर रहे थे। बीच में जब किसी मुस्लिम देश में उनका वायुयान रुका तो वहाँ के पत्रकारों ने उन्हें घेर लिया। एक ही प्रश्न था उन सबका कि शान्तिप्रिय देश के प्रधानमन्त्री युद्ध-शान्ति के क्या उपाय बतला रहे हैं? नेहरू जी ने सबके प्रश्नों को बड़ी सावधानीपूर्वक सुना और उत्तर देते हुए कहा कि भाई, हमें परस्पर में युद्ध सम्बन्धी बातें करना-कराना बन्द कर देना चाहिए फिर युद्ध नहीं होंगे। वातावरण से युद्ध विषयक चर्चाओं का किसी प्रकार से समापन हो जाएगा तब फिर युद्ध होने की सम्भावना स्वतः ही गिर जाती है। उत्तर सरल था किन्तु था सारपूर्ण। जरा विचार करें कि क्रोध की उम्र ही क्या है? क्रोध की आयु अत्यल्प होती है। यदि कोई पूरे रात-दिन क्रोध करना चाहे तो वह कर नहीं सकता। क्रोध का संवेग उत्कर्ष पर हो तो चतुराई इसमें है कि हमें उस क्षण संयम से काम लेना चाहिए। क्रोधी से कोई सम्बन्ध न रखें और उसे किसी प्रकार का रेसपोन्स न दें, उसके प्रति सजग न हों तो यह तय है कि उसका क्रोध स्वयं शान्त हो जायगा। यद्यपि क्रोध कषाय भयंकर होती है किन्तु होती है क्षण भर के लिए। विरोधी को पाकर वह तत्काल जागती है। इसीलिए लोक जीवन में क्रोध-काल में मौन रखने की बात कही गई है—कहावत भी चल पड़ी कि एक चुप सौ को हराए।

जब क्रोध का संवेग आक्रमण करे तब हमें कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिए जिनसे उसका पोषण होता है। उदाहरणार्थ - क्रोध-काल में भोजन करने की पूर्णतः वर्जना की गई है। क्रोध की अवस्था में भोजन करने से परिणाम नितान्त अशुभ तथा भयंकर होते हैं। एक बार क्रोध करने से

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्रोधी के शरीरजन्य रक्त के सोलह सौ कण जलकर नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में उसके सारे जागतिक सम्बन्ध भी प्रभावित हो जाते हैं। इस प्रकार क्रोध करना तो दूर क्रोध सम्बन्धी बातें करने से भी चित्त में दूषण लगता है।

मान-कषाय

राग-द्वेष प्राणी की सहज अवस्था को विकृत करता है। क्रोध और मान दोनों ही द्वेष से उत्पन्न होते हैं। निन्दा व्यक्ति में क्रोध पैदा करती है जबकि प्रशंसा से मान का उदय होता है। प्रतिकूलता में क्रोध जगता है और अनुकूलता में मान कषाय उद्‌बुद्ध होती है।

कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, जाति, रूप तथा ज्ञान आदि अवस्थाओं में व्यक्ति का मद जाग्रत होते ही मान कषाय का जन्म होता है। मान कषाय के उत्पन्न होते ही व्यक्ति में अहं वृत्ति का पोषण होने लगता है। मान की द्वादश अवस्थाओं का उल्लेख भगवती सूत्र में उपलब्ध है। यथा—

(१) मान	(२) मद	(३) दर्प
(४) स्तम्भ	(५) गर्व	(६) अत्युत्क्रोश
(७) पर-परिवाद	(८) उत्कर्ष	(९) अपकर्ष
(१०) उन्नत	(११) उन्नतनाम	(१२) दुर्नाम

अपने किसी गुण पर मिथ्या अहंवृत्ति मान, अहंभाव में तन्मयता मद, उत्तेजनापूर्ण अहं भाव दर्प, अविनम्रता से स्तम्भ, अहंकार से गर्व, अपने को दूसरों से श्रेष्ठ कहना अत्युत्क्रोश, पर-निन्दा से पर-परिवाद, अपना ऐश्वर्य प्रकट करना उत्कर्ष, दूसरों की हीनता प्रकट करना अपकर्ष, दूसरों को तुच्छ समझना उन्नत, गुणी के सामने न झुकना उन्नतनाम तथा यथोचित रूप से न झुकना दुर्नाम नामक मान की विभिन्न अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं।[10]

प्राणी की बहिरात्म-अवस्था में मान कषाय का जन्म-मरण होता रहता है। यहाँ पर को स्व माना जाता है और ऐसी मान्यता से मान कषाय का जन्म होता है। जब पर को पर और स्व को स्व मान लिया जाता है तभी प्राणी की ममत्व बुद्धि का अन्त हो जाता है और उसकी अन्तरात्म-अवस्था का प्रारम्भ हो जाता है।

मान कषाय के उत्पन्न होते ही प्रेम और उससे सम्बन्धित सारे सम्बन्ध संकीर्ण और विकीर्ण हो जाते हैं। विचार करें कि जब सारे मान समान हो जाते हैं तभी प्रेम की उत्पत्ति होती है। इसी आधार पर मानवी-प्राणी के वैवाहिक संस्कार में दीक्षित होने से पूर्व वर-वधू की जन्म-पत्रिका के आधार पर गुणों का मिलान किया जाता है। जितने अधिक गुणों का मिलान हो जाता है—संजोग उतना ही शुभ और सुखद माना जाता है। मान जिसमें अधिक जाग्रत रहते हैं, प्रेमतत्त्व उसमें उतना ही गिरता जाता है।

आत्मा का उदात्त गुण है ज्ञान, ज्ञानी का लक्षण है कि उसमें सदा विनय की प्रधानता रहती है। किन्तु ज्ञानी को जब अपने ज्ञान का मद उभरता है तो उसका सारा ज्ञान निस्सार और प्रभावहीन हो जाता है। एक घटना का स्मरण हुआ है। यहाँ उसी के उल्लेख से मैं अपनी बात स्पष्ट करूँगा। एक अंधेरी कोठरी में मैं अकेला एकाकी बैठा हुआ था। चित्त में आठ मदों के आकार और विकार पैदा हो चुके थे। अनुकूल वातावरण पाकर वे सभी साकार भी हो उठे थे। मेरे पिताश्री इंजीनियर हैं, मामा जी डिप्टी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कलक्टर हैं, मेरी पत्नी अत्यधिक रूपवती-महिला है। मेरे चाचा जी संसारी कुबेर हैं, मेरे ताऊजी बेजोड़ शक्तिवान हैं, मेरे भाई चरित्र-चक्रवर्ती हैं और मेरी बहिन ज्ञानमती हैं, महामनीषी हैं। इन आकारों ने मुझे अद्भुत स्थिति में डाल दिया और मैं अपने को विलक्षण अनुभूत कर उठा। मुझे लगा कि मैं एक वृत्त के केन्द्र पर हूँ और ये विभूतियाँ मेरी परिधि पर निर्बाध चक्कर लगा रही हैं। परिधि पर चक्कर लगाते रहने से इन सभी मदों की अनुभूतियाँ हुआ करती हैं किन्तु जब और ज्योंही प्रकाश का उदय हुआ त्यों ही तत्काल वे परिधि के समग्र आकार विलीन हो गये। कुछ समय के पश्चात् आँखें बन्द करके देखा तो लगा कि परिधि का संसार ही मिट गया है और वहाँ केन्द्र का गहरा आलोक ही आलोक पहरा दे रहा है। सच है जीवन की कोठरी का अंधकार मिटता है ज्ञानालोक से और ज्ञानालोक जगाने से अज्ञान में स्थिर सारे अहंकार स्वयं मिट जाते हैं और जीवन आलोक से भर जाता है तब किसी आकार और विकार की सम्भावना ही नहीं रह जाती।[11]

मद से मन मैला हो जाता है। मन का मल निर्मल हो, इसके लिए आवश्यक है मान का मिटना। प्राणी-प्राणी में मेल तभी होगा, कुटुम्ब की भावना तभी जाग्रत होगी, कलह तभी सुलह में परिणत होगी जब हमारे मन से मान का पूर्णतः विसर्जन हो जाएगा।

माया कषाय

कपट का अपर नाम है माया। मन, वाणी और करनी में इकसारता का अभाव माया कषाय को जन्म देता है। किसी प्राणी के मन में कुछ है, उसी को वह कहता कुछ और है और करता तो सब कुछ और ही है ऐसी स्थिति में उसकी चर्या मायावी कहलाती है। प्राणी का स्वयंजात गुण है आर्जवत्व। ऋजोर्भावः आर्जवम् अर्थात् ऋजुता-सरलता को ही आर्जव कहा है। अनार्जवी चर्या से जीवन जटिलताओं से भर जाता है।

इस प्रकार कपटाचार माया-कषाय का ही परिणाम है। माया की महिमा पन्द्रह अवस्थाओं में परिगणित की गई है। यथा—

(१) माया	(२) उपाधि	(३) निकृति
(४) वलय	(५) गहन	(६) नूम
(७) कल्क	(८) कुरूप	(९) जिह्मता
(१०) किल्विषिक	(११) आदरणता	(१२) गूहनता
(१३) वंचकता	(१४) प्रतिकुंचनता	(१५) सातियोग

कपटाचार से माया, ठगे जाने योग्य व्यक्ति के समीप जाने का विचार से उपाधि, छलने के अभिप्राय से अधिक सम्मान करने से निकृति, वक्रतापूर्ण वचन योग से वलय, ठगने के विचार से अत्यन्त गूढ़ भाषण करने से गहन, ठगाई के उद्देश्य से निकृष्टतम कार्य करने से नूम, दूसरे को हिंसा के लिए उभारने से कल्क, निन्दित व्यवहार से कुरूप, ठगाई के लिए कार्य मन्द करने से जिह्मता, भांडों की भाँति कुचेष्टा करने से किल्विषिकी, अनिच्छित कार्य भी अपनाने से आदरणता, अपनी करतूत को छिपाने का प्रयत्न करने से गूहनता, ठगी से वंचकता, किसी के सरल रूप से कहे गये वचनों का खण्डन करने से प्रतिकुंचनता तथा उत्तम वस्तु में हीन वस्तु मिश्रित करने से सातियोग नामक विभिन्न अवस्थाएँ उभर कर समक्ष आती हैं।[12]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आज के सभ्यता प्रधान युग में आस्था का अभाव और व्यवस्था का प्रभाव उत्कर्ष को प्राप्त है। आस्था अन्तरंग की जागृति से सम्बन्धित है इससे जीवन में सरलता उत्पन्न होती है। जबकि व्यवस्था बाहरी वस्तु है इससे जीवन में कुटिलता और जटिलता का प्राधान्य रहता है। विचार करें, व्यवस्था के परिणामस्वरूप आज हर घर में ड्राइंगरूम है पर हर घर ड्राइंगरूम नहीं है। एक ही कमरा साफ-सुथरा है, सज्जित है, शेष कमरे कुचैले हैं, मैले हैं। आगत को ड्राइंगरूम में ही बिठलाया जाता है। उसके पूरे घर की सफाई-सुघराई वहीं से आँकी जाती है। पर वास्तविकता कुछ और ही होती है। इसी व्यवस्था-व्यवहार में माया मुखर हो उठती है।

मायाचारी के चित्त में अद्भुत कार्यक्रमों का संचालन होता रहता है। उसका प्रत्येक कार्य मायामय होता है। राजस्थान के एक मंदिर में मेरा जाना हुआ था। अनेक प्रभु-प्रतिमाएँ वहाँ प्रतिष्ठित थीं। पुजारी कम किन्तु दर्शनार्थी अधिक थे। संयोग से मेरे देखने के समय मन्दिर जी में केवल एक पुजारी पूजा करते मिले थे। मुझे आते देखकर उन्होंने प्रभु-पूजन जोर-जोर से करना प्रारम्भ कर दिया था। उनके द्वारा आकर्षक शारीरिक मुद्राएँ भी प्रदर्शित हो उठी थीं। इस सारे परिवर्तन को देखकर मैंने कहा था—मेरे भाई, मुझे आते देखकर आपने पूजन जोर-जोर से करना क्यों प्रारम्भ कर दिया था ? क्या आप को अपने आराध्य देव के बधिर होने की सूचना मुझे देनी थी ? वे उत्तर में मात्र मुसकराए थे, बोले कुछ भी नहीं। विचार करें, आज की उपासना में भी मिलावट है माया की। मायावी इन्सान स्वयंबोध से वंचित है। वह सोया हुआ है और यदि सोया हुआ किसी जगे को जगाये तो इससे बड़ी मखौल और क्या होगी ?[13]

हमारी धार्मिक क्रियाएँ भी माया-मोह से न बच सकीं तो अन्य नाना सांसारिक व्यवहारों की क्या स्थिति होगी ? हमारे अन्तरंग की आस्था जैसे कहीं लुक-छिप गई है और हम पूर्णतः व्यवस्था के अधीन हो गये हैं। परिणामस्वरूप हमारा प्राकृत जीवन अप्राकृत अर्थात् बनावटी हो गया है।

जब कोई विदेशी हमारे देश में आते हैं तो व्यवस्था द्वारा उन्हें देश के उन्हीं भागों में घूमने की प्रेरणा और अनुमति दी जाती है जो पूरी तरह से व्यवस्थित हैं, जिन्हें देखकर देश की गरिमा का वर्द्धन होता है। धारणा बनती है कि देश चरम उत्कर्ष को प्राप्त है, पर वास्तविकता इससे भिन्न ही होती है। आज जरा और सावधानीपूर्वक विचार करें कि पूरे दिन बाहर डोलने वाला कामकाजी जब किसी दावत में सम्मिलित होता है तब वह वेस्ट ऑफ दी ट्रंक अर्थात् उत्तमोत्तम कपड़े धारण करता है। उसकी भावना रहती है कि उसका जीवन स्तर श्रेष्ठ प्रमाणित हो। जो भीतर से श्रेष्ठ नहीं है वह श्रेष्ठ होने के लिए व्यवस्थित होने की टोह में रहता है। इस प्रकार की है मायावी चर्या। इससे एक बार चाहे व्यक्ति बाहरी परिधि पर प्रतिष्ठित हो जावे किन्तु अन्तरंग-केन्द्र में अभाव की अकुलाहट से वह प्रभावित होता है। क्योंकि अभाव में ही प्रभाव के दर्शन हुआ करते हैं। माया कषाय मिटे तभी जो है वह मुखर हो उठेगा जिससे व्यक्ति को आत्मिक तोष और संतोष मिलेगा, अकुलाहट का अन्त होगा।

लोभ कषाय

लोभ सारे बंधनों का मुख्याधार है। मोहनीयकर्मोदय से चित्त में उत्पन्न होने वाली तृष्णा अथवा लालसा वस्तुतः लोभ कहलाती है। लोभ कषाय क्रोध, मान और माया नामक कषायों से भी तीव्र और सतेज होती है। प्रारम्भिक कषायें चाहे मन्द और शान्त हो जाएँ परन्तु लोभ कषाय फिर भी शेष

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रहती है। कहते हैं कि बारहवें गुणस्थान के उत्तरार्द्ध में लोभ कषाय का समापन हो पाता है, तभी प्राणी तेरहवें गुणस्थान में आरोहण करके वीतरागी बनता है। यही जीव की सर्वज्ञता की अवस्था कहलाती है।

लोभ कषाय की सोलह अवस्थाएँ उल्लिखित हैं। यथा—

(१) लोभ	(२) इच्छा	(३) मूर्च्छा
(४) कांक्षा	(५) गृद्धि	(६) तृष्णा
(७) मिथ्या	(८) अभिध्या	(९) आशंसना
(१०) प्रार्थना	(११) लालचपनता	(१२) कामाशा
(१३) भोगाशा	(१४) जीविताशा	(१५) मरणाशा
(१६) नन्दिराग		

संग्रह करने की वृत्ति से लोभ, अभिलाषा से इच्छा, तीव्रता की संग्रह वृत्ति से मूर्च्छा, प्राप्त करने की इच्छा से कांक्षा, प्राप्त वस्तु में आसक्ति होने से गृद्धि, जोड़ने की इच्छा, वितरण की विरोधी वृत्ति से तृष्णा, विषयों का ध्यान से मिथ्या, निश्चय से डिग जाना वस्तुतः अभिध्या, इष्ट प्राप्ति की इच्छा करने से आशंसना, अर्थ आदि की याचना से प्रार्थना, चाटुकारिता से लालचपनता, काम की इच्छा से कामाशा, भोग्य पदार्थों की इच्छा से भोगाशा, जीवन की कामना से जीविताशा, मरने की कामना से मरणाशा तथा प्राप्त सम्पत्ति में अनुराग से नन्दिराग नामक लोभ कषाय की सोलह अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं।[14]

सामान्यतः जिनवाणी में उल्लिखित है कि नारकी जीवों में क्रोध की प्रधानता रहती है, तिर्यंचों में माया का अतिशय, मानवों में मान कषाय का उत्कर्ष रहता है तथा देवों में लोभ कषाय की प्रचुरता रहती है। इन्हीं कषायों की तीव्रता रहने से प्राणी अपने नये जन्म में कर्मानुसार नाना पर्यायों में आया-जाया करते हैं।

आचार्य अकलंक ने लोभ के तीन प्रकार कहे हैं यथा—[15]

(१) जीवन लोभ (२) आरोग्य लोभ (३) उपयोग लोभ

और आचार्य अमृतचन्द्र ने लोभ के चार प्रकार कहे हैं यथा—[16]

(१) भोग (२) उपयोग
(३) जीवन भोग (४) इन्द्रियों और उनके विषयों का भोग

लोभी व्यक्ति क्रोध का प्रसंग उपस्थित होने पर भी क्रोध नहीं करता और मानापमान का भी विचार नहीं करता। वह योगियों की भांति इन्द्रियों का दमन कर सकता है, सुख तथा बासना का त्याग कर सकता है। यदि कुछ प्राप्त होने की आशा हो तो वह दस गालियां भी सहन कर सकता है। करुण स्वर सुनकर भी उसका हृदय पसीजता नहीं, न वह तुच्छ व्यक्ति के सामने दीन बनकर हाथ पसारने से संकोच ही करता है।[17]

क्रोध कषाय शान्त हो जाये तो अन्य तीन कषायों की उपस्थिति बनी रहती है पर यदि लोभ कषाय का शमन हो जाये तो सभी कषाय-कुलों का नाश हो जाता है। इसलिए लोभ को पाप का बाप कहा गया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक संस्मरण का स्मरण हुआ है यहाँ उसी के माध्यम से अपनी बात को स्पष्ट करूँगा। एक संत तपश्चरण के उपरान्त नगर में मधुकरी प्राप्त्यर्थ प्रवेश करते हैं। मधुकरी पाकर वे पुनः अटवी को लौटते हैं और तप में लीन हो जाते हैं। यही उनकी दैनिक चर्या रहती है। पूर्णतः विदेही हैं वे। एक बार मधुकरी देते हुए उनके एक भक्त ने उनसे भारी प्रार्थना की—महात्मन्! आप अपने हाथों में मधुकरी पाते हैं। मेरे लिए यह अशोभनीय है। मेरी प्रार्थना है कि आप यह रजत-पात्र अंगीकार कर लीजिए और नित्य मधुकरी इसी में प्राप्त कीजियेगा। अनेक बार इंकार करने पर भी अपने भक्त की प्रसन्नतार्थ संत ने उस रजत-पात्र को स्वीकार कर लिया और जब संत को रजत पात्र में मधुकरी पाते देखा तो भक्त प्रफुल्लित हुआ और संत पात्र लेकर अटवी की ओर गमन कर गये। सदा की भांति वह आज भी तप में जाने के लिए तैयार हुए कि उन्हें रजत-पात्र को कहीं रखने की आवश्यकता हुई। उन्होंने रजत-पात्र को वृक्ष की खोखर में रख छिपाया। तप में बैठ गए। कुछ ही समय पश्चात् देखते क्या हैं कि संत का मन परेशान है और उन्होंने अपनी आँखें खोल ली हैं। वे उठते हैं और खुखाल में जाकर रजत-पात्र की पड़ताल करते हैं। उसे वहीं सुरक्षित रखा पाकर नाहक दाह में जलने लगते हैं। आज संत सामायिक में एकाग्रचित्त न हो सके, रजत-पात्र ने बाधा उत्पन्न कर दी। विचार करें कि हमारे अन्तर्मन की पवित्रता में ऐसे कितने रजत-पात्र व्यवधान रूप हैं? भूत का भय और भविष्य की चिन्ता व्यक्ति को निरर्थक आकुल-व्याकुल बनाती है। गंगा स्नान व्यर्थ है। शास्त्र-सामायिक में जाना सिड़ीपंती है यदि हमारा अन्तरंग लोभ कषाय से संपूर्णतः कषा है। लोभ विसर्जन वस्तुतः वृत्ति का पवित्र आमंत्रण है।[18]

इस प्रकार कषाय कौतुक कितने कुटिल और कुचाली है कि प्राणी को वास्तविकता से दूर सुदूर कर देते हैं। प्रेम, प्यार और प्रतीति जैसी उदात्त अवस्थाओं से जीव को वंचित कराने का श्रेय कषाय को ही है। विचार करें कि राग-द्वेष वस्तुतः विषवृक्ष हैं। वासना और कषाय से राग-द्वेष की सर्जना होती है। माया कषाय तथा लोभ कषाय से आसक्ति, आसक्ति से राग एवं क्रोध तथा मान कषाय से घृणा और घृणा से द्वेष उत्पन्न होता है। घृणा और आसक्ति ने ही वैर तथा ममता को प्रोत्साहन दिया है। आज सारा संसार वासना और कषाय की अग्नि में धधक रहा है। इस प्रज्वलन से यदि किसी को मुक्ति पाना है तो उसे विशुद्ध भावना से श्रुत साहित्य, ब्रह्मचर्य तथा तप का परिपालन विवेक और विज्ञान के साथ करना होगा। विचार करें कि क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाश करता है, माया से मैत्री मिटती है और लोभ से सभी सद्‌गुणों का विनाश होता है। इस प्रकार कषाय हमारा सर्वनाश करती है। इसके विपरीत शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को तथा सन्तोष से लोभ कषाय को जीतना ही सच्ची पुरुषार्थ-साधना मानी गई है।[19]

विचारप्रधान प्राणी की तीन आत्मिक अवस्थाएँ मानी गई। यथा—

(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा

बहिरात्मा में जीव पर-पदार्थ को ही स्व-आत्म पदार्थ मान बैठता है। उसी में लीन होकर अनादिकाल से जन्म-मरण के चंक्रमण में सक्रिय रहता है।[20] बहिरात्मा को आत्मा के भिन्न स्वरूप का श्रद्धान नहीं होता और इसीलिए उसे न तो आत्मा के अजर-अमर तथा अविनाशी होने का विश्वास है और न ही परलोक में आत्मा के आवागमन का श्रद्धान, जहाँ अपने-अपने कर्म का फल प्राप्त करती है। संसार में लीन-प्राणियों की यही दशा है, वे इस मनुष्य शरीर को ही अपना सर्वस्व समझते हैं। शरीर के जन्म को अपना जन्म एवं शरीर के मरण को वे अपना मरण समझते हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषय-भोगों में ही वे सच्चा सुख समझते हैं। विषय-भोगों में जो-जो सहायक होते हैं उनसे उसकी प्रगाढ़ प्रीति होती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसीलिए वह अपनी स्त्री से बहुत राग करता है और होता है पुत्र-पौत्रों का अत्यन्त मोही। धन-धान्य का उपार्जन भी इसलिए करता है कि अपने कुटुम्ब के साथ वह निर्बाध भोग भोगे।

इस प्रकार मिथ्या बुद्धि के कारण ही वह अज्ञानी स्त्री-पुत्र आदि के होते हुए अपने को सम्पत्ति-वान समझता है। दिन-रात उन्हीं की चिन्ता में फंसा रहता है। कुटुम्ब की विषय-कामनाओं की पूर्ति करता और उनके मोह में उनको हर तरह अनुकूल बनाने के उपाय करता हुआ स्वयं बद्धता प्राप्त करता है। इस प्रकार उसकी लालसा का अन्त नहीं हो पाता और अन्त में आयु बिताकर अपनी पर्याय छोड़ता है, विलाप करता है कि हाय मैं अमुक काम किए बिना ही चल दिया, यदि पौत्र के दर्शन कर लेता, उसके कतिपय कौतुक और देख लेता तो मेरा जन्म सफल हो जाता।

जरा विचार करें, ये अज्ञानी जीव भोग की तृष्णा में ही अपने दुर्लभ मनुष्यजन्म को नष्ट कर देते है। मानव जन्म पाने का कुछ भी सुफल ये प्राप्त नहीं कर पाते और राग-द्वेष, मोह से तीव्र कर्म बांध कर दुर्गति को प्राप्त करते हैं। सच्चे धर्म को, सच्चे आत्म-स्वरूप को, सच्चे सुख को न पहचान कर ये बेचारे अज्ञान के कारण अपनी आत्मिक सुख-शान्ति के भण्डार से सर्वथा वंचित रहते हैं और पुनः-पुनः सांसारिक अर्णव में अवगाहन करते रहते हैं।

देह में आत्म-बुद्धि रखने तथा आत्मा में आत्म-बुद्धि न करने से ही इस जगत की सारी बहिरात्माओं की ऐसी दुर्दशा हो रही है। कर्म का चक्र विचित्र है। कर्म कौतुक ईथर की भांति प्रतिध्वनि-वाद जैसा है। हमारी इन्द्रियों के द्वारा जो ऊर्जा ध्वनि निसृत होती है वह अन्ततः ईथर से जा टकराती है। अपने स्वभाव से वह वहाँ से लौटकर पुनः उसी स्थान को आती है, जहाँ से वह चली थी। मान लीजिए, किसी प्राणी ने क्रोध में किसी को गाली दी तो वह ईथर से जा टकराती है और वहाँ से लौटकर वह दाता के पास लौटकर जब आती है तब ग्रहण करने में कितना कष्ट होता है, यह वस्तुतः कहने का कम अपितु अनुभव करने का अधिक विषय है। इसी प्रकार कर्मपक्ष जब अपने उदय में आते हैं तब कर्मी दुःख-सुख की अनुभूति करता है। इस सारी प्रक्रिया को अपनी नासमझी के कारण अज्ञानी प्राणी क्रोध, मान, माया और लोभ जैसी कषायों से निरन्तर अनुप्राणित करता रहता है। कषायों के कौतुक बड़े विचित्र हैं। दूसरों पर क्रोध करते हुए क्रोधी अपने इस पुरुषार्थ को सार्थक समझकर सुखी होता है। अमुक पर खूब क्रोध किया और उसे पर्याप्त कष्टायित कर प्रतिकार लिया जा सका है, पर, भला प्राणी यह नहीं जानता है कि क्रोध कषाय की वर्गणा लौटकर प्रतिकारी स्वाद से स्वयं को आस्वादित करेगी। यदि यह सत्य और तथ्य जाना जा सके तो फिर कौन ऐसा—निरीह प्राणी होगा जो क्रोध को पर और स्व के लिए आमंत्रित करे।

उपाधि वस्तुतः बोझ है। इसको जितना अधिक उत्कर्षित किया जाएगा कर्ता उतना ही अधिक स्वयं को बोझिल बनाएगा। जागतिक सम्पन्नता में सामान्यतः अपार आकर्षण होते हैं। अज्ञानी इन्हीं आकर्षणों में भ्रमित होकर नाना प्रकार के मान-अभिमान में लीन हो जाता है। मान मिलते रहें अथवा अभिमान सन्तुष्ट होते रहें तो प्राणी जघन्य कष्टों में भी जीने की स्वीकृति दे देता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मान की महिमा अनंत है। मान के कौतुक में अद्भुत प्रकार का आकर्षण है। विचारें, जो नहीं है उसका यदि आरोपण किया जाए तो अभाव को क्षणिक सन्तोष मिलता है। किसी कान्स्टेबुल को यदि दीवान जी कह दिया जाए तो उससे अनर्थ कराने में अनुकूलता पाई जा सकती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसी प्रकार नाना मनौतियाँ हैं जिनके द्वारा हमारा निर्मल आत्मन् बन्दी बनता है/रहता है। मान कषाय का यही कौतुक कौशल है जो सामान्य प्राणी को सन्मार्ग से हटाकर उन्मार्ग की ओर ले जाता है।

माया की महिमा असाधारण है। संसार की सपक्षता इसी कषाय पर निर्भर करती है। प्राणी जितना अधिक मायाचारी होगा, उतना ही अधिक वह सपक्ष संसारी होगा। संसार का आकर्षण व्यक्ति को धीरे-धीरे सालता है और जब उसका आर्जवत्व पूर्णतः दब जाता है तभी उसका जीवन वस्तुतः उधार का वन जाता है। वह अपनी स्थिति से कभी संतुष्ट नहीं रह पाता। वह सदा दूसरों को ठगने में अथवा धोखा देने में संतोष रस का आनन्द अनुभव करता है। इस प्रकार की कषैली चर्याएँ हमारे जीवन को प्रभावित किए रहती हैं। जो इस दल-दल से निकलना चाहता है अथवा उबरना चाहता है, उसे ये संसारी प्राणी अपने हास्य का पात्र बनाते हैं और इस प्रकार उनका सतत प्रयास रहता कि प्राणी उनके चक्र से मुक्त न होने पाए।

लोभ का लावण्य निराला है। इससे छूटना साधारण साधक की बिसात नहीं। इसकी चिपकन बड़ी तीव्र होती है। अन्य कषायों की कसावट से ऊपर, सबसे ऊपर इसकी उड़ान होती है। सारी कसावटें हट सकती हैं किन्तु लोभ का प्रलोभ चिपका ही रहता है। इसमें कड़वाहट नहीं, मिठास होती है। इसके कौतुकों में अद्भुत प्रकार की कमनीयता है— कंचन, कामिनी और कुकर्म इसके प्रमुख उपादान हैं। इसके प्रभाव से प्राणी का चित्त विचित्र फिसलन से चिरंजीवी होता रहता है। पर-पदार्थों की नाना पर्यायों में तथा उनके क्षणिक परिवर्तनों में जो स्वयंजात आकर्षण होता है। उसके प्रलोभी प्राणियों में लोभ कषाय की पूर्णतः प्रभावना विद्यमान रहती है। इस कषाय के वशीभूत प्राणी मिथ्यादृष्टि हो जाते हैं। उन्हें सन्मार्ग की अपेक्षा उन्मार्ग को अपनाने में सुख का आभास होने लगता है।

मकड़ी के जाले में फँसी मक्खी की भांति कषाय कौतुक व्यक्ति को कर्मजाल में जकड़ लेते हैं उससे निकल पाना कोई सुगम और सरल काम नहीं है। प्रश्न यह है कि इन कषाय चतुष्टय के चंगुल से मुक्त किस प्रकार हुआ जा सकता है? कषायों से छुटकारा नरक, तिर्यंच तथा स्वर्ग गति में जन्म लेने वाले जीवों को भी सम्भव नहीं होता। इस प्रबन्धन से मुक्ति प्राप्त्यर्थ मनुष्य गति में जन्म लेना एक मात्र साधन है।

सद्चर्या में षट् आवश्यकों की आराधना करने का उल्लेख मिलता है। देव दर्शन, गुरु उपासना स्वाध्याय, संयम, तप और दान–ये षट् आवश्यक कहे गए हैं जिनकी आराधना करने से श्रावक की दिनचर्या अशुभ से शुभ और शुभतर होती है। उसके परिणामों में शान्ति और सन्तोष के संस्कार जागते हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच के दिव्य गुणों का अन्तरंग में जागरण होता है तब क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों की तीव्रता मन्द होती हुई अन्ततः समाप्त हो सकती है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह निष्कर्ष रूप से सहज में कहा जा सकता है कि कषाय ही आत्मा की विकृति का प्रधान कारण है। कषायों का अन्त हो जाना ही भव-भ्रमण का अन्त हो जाना है। जिन-वाणी में प्रचलित प्रसिद्ध उक्ति कितनी सार्थक है—कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. (अ) पंचसंग्रह, प्राकृत, 1-109
   (ब) चारित्रसार, 89-1
2. सर्वार्थसिद्धि, 6-4-320-9
3. (अ) राजवार्तिक, 2-6-2-108-28
   (ब) योगसार, अपभ्रंश, 9-40
4. कषाय पाहुड, 1-1, 13-14, 287-322-1
5. (अ) सर्वार्थसिद्धि, 8-9-386-4
   (ब) राजवार्तिक, 8-9, 15-574-27
   (स) बृहद्नयचक्र, 308
6. (अ) तत्वार्थसूत्र 8-9
   (ब) पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध, 1077
7. (अ) द्रव्य संग्रह, 13-38-1
   (ब) कषाय पाहुड, 1-1, 13-14
   (स) धवला, 8-3, 6-21
8. भगवती सूत्र, शतक 12-305
9. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, पृष्ठ 624
10. भगवती सूत्र, 1-12, 305
11. अमृत पत्र, डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, पृष्ठ 2 तथा 3
12. भगवती सूत्र, 12-5-4
13. अमृत पत्र, डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, पृष्ठ 3 तथा 4
14. भगवती सूत्र, शतक 12
15. तत्त्वार्थसार, अमृतचन्द्राचार्य
16. जैन आचार : सिद्धान्त और स्वरूप, देवेन्द्र मुनि, पृष्ठ 632
17. अमृत पत्र, डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया, पृष्ठ 5-6
18. दशवैकालिक अध्याय 8, सूत्र गाथा 38-39
19. समाधि शतक, आचार्य पूज्यपाद, श्लोकांक 5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org